



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2018; 4(1): 60-64

© 2018 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 11-11-2017

Accepted: 12-12-2017

प्रेम सिंह

शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली,
भारत

डॉ. विजयशंकर द्विवेदी

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, भारत

मानव अधिकारवादी सिद्धान्त

प्रेम सिंह, डॉ. विजयशंकर द्विवेदी

प्रस्तावना

मानवाधिकारों का स्रोत कहाँ है ? मानवाधिकारों की उत्पत्ति कैसे हुई ? इस सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं। यदि हम मानवाधिकारों की संकल्पना का प्रयोग ऐसे साधनों के रूप में करते हैं जो व्यक्ति को निरंकुश शक्ति के अत्याचार से संरक्षण प्रदान करते हैं तो इनकी स्थिति के विषय में विवाद नहीं रह जाता है। परन्तु यदि हम व्यक्ति, समुदाय और राज्य की स्थिति पर विचार करते हैं तो इस विषय में हमारे समक्ष अनेक दृष्टिकोण उपस्थित हो जाते हैं और हमारे समक्ष उपस्थित इन्हीं दृष्टिकोणों को हम सामान्य रूप में मानव अधिकारवादी सिद्धान्तों के नाम से भी अभिहित कर सकते हैं। मानव अधिकारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रचलित हैं उनका विवेचन इस प्रकार है—

(1) नैसर्गिक सिद्धान्त

नैसर्गिक विधि के सिद्धान्त को प्रस्तुत करने का श्रेय ग्रीक के लोगों को जाता है। विलियम डायस (1863 – 1903) ने लिखा है कि नैसर्गिक विधि सिद्धान्त के साथ इतने महान् व्यक्ति सम्बद्ध हैं जितने और किसी भी सिद्धान्त के साथ नहीं हैं, क्योंकि इस सिद्धान्त ने सभी युगों के कुछ महानतम विचारकों को अपनी ओर आकर्षित किया है। इस सिद्धान्त ने ग्रीक के महान् विद्वानों— सोफोक्लीज तथा अरस्तु जैसे महान् विद्वानों को भी अपनी ओर आकर्षित किया है। ग्रीक विद्वानों के पश्चात् इस सिद्धान्त का विकास रोमन विद्वानों ने भी किया।¹ जे.ई.एस.फासेट ने नैसर्गिक विधि के विषय में कहा है कि नैसर्गिक विधि उस बात की अभिव्यक्ति है जो सही है उसके विरुद्ध जो केवल समीचीन या कालौचित्य एक विशिष्ट समय या स्थान के लिए हैं; यह वह है जो युक्तियुक्त है उसके विरुद्ध जो मनमाना है; यह वह है जो नैसर्गिक या स्वाभाविक है उसके विरुद्ध जो सुविधाजनक है, तथा जो सामाजिक अच्छाई या भलाई के लिए है उसके विरुद्ध जो व्यक्तिगत इच्छानुसार है।² अतः प्राकृतिक या नैसर्गिक विधि मनुष्य की प्रकृति में तार्किक एवं युक्तियुक्त आवश्यकताओं पर आधारित है। आधुनिक काल में प्राकृतिक विधि के प्रवर्तक प्रो.फूलर हैं।

नैसर्गिक विधि के सिद्धान्त से ही नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त का जन्म हुआ है। मानव अधिकारों का नैसर्गिक सिद्धान्त अत्यधिक प्राचीनतम है। इसके अनुसार मनुष्य को अधिकार उसके स्वभाव से प्राप्त हुआ है। ये अधिकार जन्मसिद्ध और प्रकृति की देन हैं। प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त की चर्चा की है। स्टोइकों ने और सिसरो ने इसका समर्थन किया है। उनके अनुसार वस्तुतः 'कानून एक ही है और वह है विवेक।' वह अपरिवर्तनशील और शाश्वत है। मध्ययुग में इसे ईश्वर प्रदत्त माना गया था। इसे दैवी कानून भी कहा गया है। जॉन लॉक, हर्बर्ट स्पेन्सर आदि ने भी इसका समर्थन किया है। टॉमस हॉब्स ने कहा है कि प्रकृति की विधि एक सामान्य नियम है जो विवेक पर आधारित है।³ नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त के आरम्भिक संकेत 12 वीं शताब्दी के यूरोप में मिलते हैं। परन्तु इसका व्यवस्थित निरूपण 17 वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। इस शताब्दी के आरम्भ में ह्यूगो ग्रोशियस (1583 – 1645) ने तर्क दिया कि प्राकृतिक कानून का आधार मनुष्य की विवेकशील प्रकृति में ढूँढना चाहिए। इस तर्क के आधार पर ह्यूगो ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नींव रखी।⁴ नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त की संकल्पना प्रस्तुत करने का श्रेय टॉम पेन (1737 – 1809) को जाता है। इन्होंने ही प्राकृतिक अधिकारों को 'मनुष्य के अधिकार' की संज्ञा दी है। ये अधिकार इस तर्क पर आधारित थे कि ये मनुष्य को मनुष्य होने के नाते प्राप्त होते हैं; अतः ये मनुष्य की प्रकृति में निहित हैं। ये किसी रीति-रिवाज, कानून, राज्य या किसी अन्य संस्था की देन नहीं हैं।⁵ नैसर्गिक अधिकारों के विचार को तर्कसंगत रूप में ढालने का श्रेय जॉन लॉक (1632 – 1704) को जाता है। जॉन लॉक ने तर्क दिया कि 'जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति का अधिकार' मनुष्य की विवेकशील प्रकृति का अभिन्न अंग है; यह व्यक्ति के व्यक्तित्व में निहित है, इसे उससे अलग नहीं किया जा सकता है।

Correspondence

प्रेम सिंह

शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली,
भारत

जॉन लॉक ने प्राकृतिक अधिकारों को 'परम पावन' मानते हुए राज्य के विरुद्ध क्रान्ति के अधिकार की मान्यता दी है।⁶ जॉन लॉक ने जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकारों की कोटी में रखा है। ये अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व में निहित हैं, राज्य के अस्तित्व पर आश्रित नहीं हैं। ये सर्वव्यापक और असीम हैं। इनमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं है। जब मनुष्य प्राकृतिक दशा में था तब महिलायें और पुरुष दोनों ही समान अधिकारों के अधिकारी थे और अपने किसी भी कार्य को करने के लिए सर्वथा योग्य एवं समर्थ थे। जॉन लॉक ने यह भी माना कि ऐसी प्राकृतिक दशा में कोई भी किसी अन्य की इच्छा या प्राधिकार के अधीन नहीं था।⁷ सम्पत्ति के अधिकार के विषय में सेबाइन ने कहा है कि 'यह एक ऐसा अधिकार है जिसको प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अभिन्न भाग के रूप में लेकर समाज में आता है।' ⁸ जॉन लॉक की प्राकृतिक अवस्था इस विवेक जनित प्राकृतिक नियम पर आधारित है कि 'तुम दूसरों के प्रति वही बर्ताव करो, जिसकी तुम दूसरों से अपने प्रति आशा करते हो।' ⁹ एण्ड्रयू हैकर ने भी कहा है कि 'व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार उसके व्यक्तित्व में अन्तर्निहित हैं, उसके जन्म से ही अपरिवर्तनीय हैं और व्यक्ति के द्वारा इन्हें जीवन पर्यन्त अन्य किसी को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता।' ¹⁰ जॉन लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की अनेक विशेषताएँ बतायीं हैं। जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(क) प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य समान थे, क्योंकि सभी सृष्टि के एक ही स्तर पर और सब एक ही सर्वशक्तिमान और अनन्त बुद्धि—सम्पन्न स्रष्टा की सन्तान हैं।

(ख) प्राकृतिक अवस्था शान्ति व पारस्परिक सद्भाव पर आधारित होने के कारण सभी व्यक्ति समान व स्वतन्त्र माने जाते थे, कोई किसी को हानि पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करता था। सब समान रूप से प्राकृतिक लाभों को प्राप्त करते थे और किसी के अधीन नहीं थे।

(ग) प्राकृतिक अवस्था में लोग पूर्णतः स्वतन्त्र थे, किन्तु ये स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता या स्वेच्छाचारिता नहीं थी क्योंकि प्राकृतिक अवस्था का नियन्त्रण प्राकृतिक नियमों द्वारा होता था। बुद्धि पर आधारित नैतिक नियम ही प्राकृतिक नियम थे। दूसरे की हत्या करना प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल है क्योंकि इसका ज्ञान हमें इस प्रकार के तर्क से होता है, जैसे व्यक्ति को अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार नहीं है वैसे ही उसक दूसरे के जीवन को नष्ट करने का भी अधिकार नहीं है। वह जो व्यवहार अपने लिए चाहता है उसे वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करना चाहिए।

टॉमस हॉब्स (1588 – 1679) ने कहा है कि प्रकृति ने सब को समान बनाया है इसलिए प्राकृतिक अधिकारों पर सबका समान अधिकार है। ¹¹ प्राकृतिक अधिकारों के महत्त्व की पुष्टि अमेरिकी स्वाधीनता की घोषणा (1776) में की गई थी कि 'मनुष्य जन्म से समान हैं और विधाता ने उन्हें कुछ ऐसे अधिकार दिये हैं जो उनसे छीने नहीं जा सकते। इनमें जीवन, स्वतन्त्रता और सुख की साधना प्रमुख हैं।' साथ ही, मानव तथा नागरिक के अधिकारों की फ्रान्सिसी घोषणा (1789 ई.) के अन्तर्गत भी ऐसे अधिकारों का दावा किया गया था जो 'प्राकृतिक, अहार्य और अपरक्राम्य हैं। दूसरे शब्दों में ये अधिकार स्वयं प्रकृति की देन हैं; कोई इनका हरण नहीं कर सकता; और ये किसी दूसरे को हस्तान्तरित नहीं किये जा सकते हैं।' ¹² जॉन लॉक के प्राकृतिक अधिकारों की उद्घोषणा को अमेरिकी संविधान के चौदहवें संशोधन में भी महत्त्व दिया गया था और कहा गया था कि राज्यकानून को उचित प्रक्रिया के बिना किसी व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से वंचित करने का कोई अधिकार नहीं है। ¹³ सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने यह मत प्रस्तुत किया कि कुछ अधिकार राज्य की उत्पत्ति से पहले, अर्थात् प्राकृतिक दशा में भी विद्यमान थे। इन्हें प्राकृतिक अधिकार कहा जाता था। इन अधिकारों का सृजन राज्य ने नहीं किया बल्कि राज्य का जन्म इन अधिकारों की रक्षा के लिए हुआ है। अतः प्राकृतिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को

जन्म से ही प्राप्त होते हैं। उनमें किसी के द्वारा कोई हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है। टी.एच.हर्गसली ने प्राकृतिक अधिकारों को 'शेर का अधिकार' कहा है।

(2) वैधानिक सिद्धान्त

वैधानिक सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक जेरेमी बेंथम (1748 – 1832) हैं। वैधानिक सिद्धान्त को राजनैतिक सिद्धान्त या राज्यवादी सिद्धान्त के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। जेरेमी बेंथम ने वैधानिक सिद्धान्त के साथ-साथ अधिकारों के उपयोगितावादी ¹⁴ सिद्धान्त की रूपरेखा भी प्रस्तुत की थी। उपयोगितावादी सिद्धान्त मानव के सुख पर आधारित है। जेरेमी बेंथम का वैधानिक सिद्धान्त नैसर्गिक सिद्धान्त का पूर्णतः विरोध करता है। जेरेमी बेंथम ने प्राकृतिक अधिकारों की हँसी उड़ायी है और प्राकृतिक अधिकारों को विवेकहीन कहा है। ¹⁵ प्राकृतिक अधिकारों को उसने केवल एक प्रलाप और मूर्खता का नंगा नाच बताया। उसका कहना था कि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का विचार सामाजिक जीवन में अराजकता को, राज्य सत्ता के प्रतिरोध को स्थान दिलाता है। जेरेमी बेंथम के शब्दों में, 'प्राकृतिक अधिकार बकवास मात्र है, प्राकृतिक और अहस्तान्तरणीय अधिकार आलंकारिक बकवास है..... शब्दाडम्बरों के ऊपर की बकवास है।' उनके अनुसार अधिकार तो मानव के सुखमय जीवन के नियम हैं जिन्हें राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है। ¹⁶ अधिकार राज्य की देन हैं। कानून के विधि निषेध ही अधिकार और अनधिकार की परिभाषा हैं। कोई अधिकार असीम नहीं होता है। सभी अधिकार देश-काल के कानून से बंधे होते हैं, जब तक राज्य किसी कानून को मान्यता नहीं देता तब तक उसे किसी भी अर्थ में अधिकार नहीं माना जा सकता है। जो अधिकार राज्य द्वारा प्रदत्त नहीं हैं वे अधिकार नहीं हैं। जेरेमी बेंथम के अनुसार अधिकार मानव के सुखमय जीवन के अंग हैं जिन्हें राज्य के कानून द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है। राज्य ही सम्पूर्ण अधिकारों का स्रोत है और नागरिक राज्य के विरुद्ध अपने किसी भी प्रकार के अधिकारों का दावा नहीं कर सकते हैं। सभी अधिकार राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव हैं। ¹⁷ इसलिए राज्य के तीन कार्य हैं— 1. अधिकारों का नियमों द्वारा सृष्टि करना, 2. उनके क्षेत्रों को सीमाबद्ध करना, और 3. अधिकारों के उपभोग के लिये संगठनों की स्थापना करना। बेंथम ने कहा है कि राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए है। राज्य का विधान ही यह निश्चित करता है कि हमारे कौन-कौन से अधिकार हैं। किन दशाओं में हम अपने जीवन के स्वामी हैं, किन दशाओं में हम किसी पदार्थ या सम्पत्ति का स्वत्व रख सकते हैं, अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहार करते हुए या उनके सम्पर्क में आते हुए हम कौन-से नियमों का पालन भरोसे के साथ कर सकते हैं— ये सब बातें राज्यसंस्था के द्वारा ही निश्चित होती हैं। जीवन तक का अधिकार राज्य द्वारा निर्धारित होता है, क्योंकि राज्य ही यह निर्णय करता है कि किन परिस्थितियों में हमसे हमारा जीवन छीना जा सकता है। राज्य के विधान या कानून से बाहर हमारा कोई भी अधिकार नहीं है। राज्य मनुष्य को जो अधिकार देता है, उन्हीं का वह उपभोग कर सकता है। जिन्हें हम मनुष्य के आधारभूत अधिकार कहते हैं, उनकी सत्ता का कारण भी उनका राज्य द्वारा ही होना है। अतः यह स्पष्ट कि मानव अधिकारों की उत्पत्ति व सत्ता राज्यसंस्था के ही कारण है। इसलिए राज्यसंस्था से पृथक् किसी अन्य प्रकार के (नैसर्गिक व जन्मसिद्ध) अधिकारों की सत्ता सम्भव नहीं है। अतः अधिकारों का मूल राज्य है। ¹⁸ एच.जे.लॉस्की (1893–1950) ने कहा है कि एक राज्य की पहचान उन अधिकारों से होती है जिनकी वह व्यवस्था करता है। ¹⁹ जीन बोदां (1530 – 1596) ने भी कहा है कि राज्य परिवारों और उसके सामूहिक अधिकार में विद्यमान सत्ताओं का एक ऐसा समुदाय है जिसका शासन एक सर्वोपरि शक्ति और विवेक द्वारा होता है। ²⁰

(3) समुदायवादी सिद्धान्त

समुदायवादी सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक एलेस्डेयर मैकिंटायर (1929) हैं, परन्तु बाद में माइकेल सैंडेल एवं माइकेल वालजर आदि विचारकों के योगदान से इस सिद्धान्त का विकास हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति का हित समुदाय के सामान्य हित के अर्न्तगत ही सार्थक हो सकता है। समुदाय से अलग हो जाने पर व्यक्ति के लिए कोई भी विशेषाधिकार नहीं होता अपितु समुदाय से अलग होकर व्यक्ति अपने पहले से प्राप्त अधिकारों को भी खो देता है। एलेस्डेयर मैकिंटायर का मानना है कि समुदाय के प्रति आत्मसमर्पण करके ही व्यक्ति अपना हित साध सकता है। इससे भिन्न होने पर उसके अधिकारों का कोई आधार नहीं है।²¹ अतः अधिकार समुदाय की देन हैं।

(4) ऐतिहासिक सिद्धान्त

अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक एडमण्ड बर्क (1729 – 1797) हैं। इस सिद्धान्त को रूढ़ीवादी सिद्धान्त के नाम से भी जाना जाता है।²² एडमण्ड बर्क ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। एडमण्ड बर्क ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए तर्क दिया कि सभ्य समाज के आविर्भाव से पहले जिन अधिकारों के अस्तित्व की कल्पना की जाती है, उन्हें सभ्य समाज में लागू करना एक भूल है।²⁴ एडमण्ड बर्क का मानना था कि यदि प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के पश्चात् यदि किसी सामाजिक अनुबन्ध या सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का उदय हुआ भी है तो वह तथाकथित प्राकृतिक अधिकारों को नष्ट करके ही जन्मा है। एडमण्ड बर्क ने यह तर्क भी दिया कि अधिकार प्राचीन काल से चले आ रहे इतिहास की देन हैं। मानव अधिकारों के सन्दर्भ में इतिहास का अर्थ है— प्रचलित रीति-रिवाज, परम्पराएँ एवं प्रथाएँ। जब रीति-रिवाज लम्बे चलन के बाद स्थिर हो जाते हैं तब ये चिरकालीन रीति-रिवाज समयानुक्रम में अधिकार का रूप धारण कर लेते हैं²⁴ और इस प्रकार इतिहास अधिकारों की सृष्टि करता है। उदाहरणार्थ— प्राचीन स्पार्टा में यह प्रथा थी कि बच्चों को जीवन जीने दिया जाये या नहीं, इस बात का फैसला उनके स्वास्थ्य एवं शारीरिक दशा को ध्यान में रखकर किया जाता था। मानव-जीवन तक के अधिकार को वहाँ एक प्रथा के अनुसार नियन्त्रित किया जाता था। तत्कालीन समाज के अनुसार व्यक्तियों को अधिकार प्राप्त थे। सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अधिकार तो पूर्णतया सामाजिक प्रथा पर ही आश्रित है। इतिहास में अनेक ऐसे समाज रहे हैं, जो सम्पत्ति पर सबके सामूहिक अधिकार को स्वीकृत करते थे और जो वर्तमान में भी देखे जा सकते हैं। पिता की सम्पत्ति पर पुत्र एवं पुत्रियों का अधिकार परम्परा पर ही आधारित है। पति-पत्नि को एक-दूसरे पर क्या-क्या अधिकार हैं ? माता-पिता के अपनी सन्तान पर क्या-क्या अधिकार हैं ? दादा-दादी के अपने पुत्र की सन्तान पर क्या-क्या अधिकार होते हैं ? परिवार में किस-किस सदस्य पर किस-किस सदस्य का क्या-क्या अधिकार है आदि सभी अधिकार इतिहास में ही स्थिर होते हैं। प्रत्येक समाज में धीरे-धीरे अनेक ऐसी प्रथाओं का विकास हो जाता है, जिनके अनुसार मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण होता है। ये प्रथाएँ विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होती हैं, और ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम होती हैं। मनुष्य के अधिकारों का निर्णय इन्हीं के अनुसार होता है। अन्त में कह सकते हैं कि समाज में जो प्रथाएँ, परम्पराएँ और रीति-रिवाज विद्यमान होती हैं, राज्यसंस्था उन्हीं को कानूनी रूप दे देती है। अतः मानव अधिकारों का आधार इन प्रथाओं को ही मानना चाहिए।²⁵ रूढ़िवादी परिकल्पना के आधार पर ही एडमण्ड बर्क के अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धान्त की प्रसिद्धि हुई।

(5) अस्तित्ववादी सिद्धान्त

अस्तित्ववादी सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक बायन्कर शोएक (1673 – 1743) हैं।²⁶ अस्तित्ववादियों ने अधिकारों के विषय में एक भिन्न मत की सृष्टि की है। उनका यह विश्वास है कि यदि विधि उपयुक्त विधायनी या प्रभुत्वसम्पन्न शासक द्वारा निर्मित की गई है तो लोग उसे मानने को बाध्य होंगे चाहे वह युक्तियुक्त हो या अयुक्तियुक्त हो। इस विधि को लॉ पाजिटिवम अर्थात् ऐसी विधि कहते थे जो वास्तव या तथ्य में, विधि है न कि ऐसी विधि जिसे होना चाहिए था। अधिकारों की अस्तित्ववादी प्रणाली ऐसी प्रणाली है जिसमें अधिकारों के वर्तमान परिप्रक्षय पर बल दिया जाता है। यह प्रणाली 'है' और 'होना चाहिए' में विश्वास करती है न कि 'था' में।²⁷ बायन्कर शोएक ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की आलोचना की थी। अस्तित्ववादी सिद्धान्त के आधुनिक प्रवर्तक प्रो.एच.एल.ए.हार्ट हैं। उनके अनुसार, विधि की वैधता तथा विधि की नैतिकता में अन्तर होता है। यही प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त तथा अस्तित्ववादी सिद्धान्त में मूल अन्तर है। अस्तित्ववादियों के अनुसार, विधि के वैध होने के लिए यह आवश्यक है कि उसे एक युक्तियुक्त विधायनी या शक्ति द्वारा अधिनियमित किया जाये। ऐसी विधि वैध ही रहेगी चाहे वह अनैतिक हो या अवैध ही क्यों न हो, उसे स्वीकार किया ही जायेगा।

(6) न्यायवादी सिद्धान्त

न्यायवादी सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक जॉन बॉरडली राल (1921 – 2002) हैं। जॉन राल ने अधिकारों के उदय के लिए न्याय को महत्त्व दिया है। जॉन राल का मानना है कि अधिकारों को जानने के लिए न्याय की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। न्याय के सिद्धान्तों द्वारा समाज की मूल संस्थाओं में अधिकारों एवं कर्तव्यों को समनुदेशित किया जाता है तथा इसके द्वारा सामाजिक सहयोग के लाभ एवं भार उपयुक्त रूप में विभाजित किये जा सकते हैं। न्याय के सिद्धान्त के पीछे सामान्य धारणा औचित्य की है। इस प्रकार न्याय एवं औचित्य की धारणाएँ सामाजिक प्राथमिक लक्ष्यों जैसे स्वतन्त्रता एवं अवसर, आय तथा धन तथा आत्म-सम्मान के आधार जो समान रूप से विभाजित किये जायें जब तक कि सबसे कम अनुग्रहीत के लाभ के लिए कोई अपवाद न किया जाये, को निर्धारित करने में सहायक होते हैं।²⁸ मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने कहा है कि 'पूरे ब्रह्माण्ड की नैतिकता न्याय पर आधारित है।' प्लेटो ने भी कहा है कि न्याय मानव की आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक माँग है।²⁹ अतः न्याय ही अधिकारों का मूल है।

(7) समाजिक कल्याण का सिद्धान्त

सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक सामाजिक विधिशास्त्र के प्रणेता नाथन रस्को पाउण्ड (1870 – 1964) हैं। इस सिद्धान्त को सामाजिक समीचीनता का सिद्धान्त भी कहा जाता है।³⁰ इस सिद्धान्त के अनुसार, अधिकार उन शर्तों के द्योतक हैं जो सामाजिक-कल्याण के लिए अनिवार्य हैं। अधिकारों की उत्पत्ति समाज से होती है, अतः जो कुछ समाज के लिए उपयोगी या अभीष्ट हो, उसे अधिकार मानना चाहिये। यह सिद्धान्त 'अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख' की धारणा पर आधारित है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि समाज-कल्याण या सर्व-हित को सारे अधिकारों का मूल मन्त्र मानना उचित भी है और युक्तिसंगत भी। इस सिद्धान्त के समर्थकों का यह भी मानना है कि विधि, रूढ़ि और प्राकृतिक अधिकार सभी सामाजिक समीचीनता पर आधारित होते हैं। इस प्रकार सामाजिक कल्याण ही सम्पूर्ण अधिकारों का सृजनकर्ता है और समाज के हित के लिए ही अधिकारों की सृष्टि होती है।

(8) मानवशक्ति के विकास का सिद्धान्त

मनुष्य कुछ अविकसित शक्तियों को लेकर संसार में प्रवेश करता है। उसकी इन शक्तियों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसे ऐसी परिस्थितियाँ प्राप्त हों जिनसे वह अपनी जन्म से प्राप्त शक्तियों का पूर्ण एवं सर्वांगीण विकास कर सके। अपनी शक्तियों के विकास के लिए जो परिस्थितियाँ उपयोगी हैं, उन्हें प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है। मनुष्य की शारीरिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उसे बचपन से ही अच्छा भोजन, अच्छा वातावरण और सुखमय परिवार मिले। ये सब उसे समाज से प्राप्त होते हैं और समाज के प्रति उसका यह कर्तव्य है कि वह सम्पत्ति कि उत्पादन में सहयोग दे और अपने श्रम एवं साधनों द्वारा समाज में विद्यमान सम्पत्ति में वृद्धि करे। इस कर्तव्य के प्रतिफल के रूप में ही समाज उसे सर्वांगीण विकास के लिए अवसर प्रदान करता है और प्रत्येक व्यक्ति यह आशा कर सकता है कि उसे उसकी योग्यता प्राप्त करने एवं शक्तियों के विकास का अवसर मिलेगा। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन जीने का अधिकार प्राप्त है क्योंकि जीवित रहकर ही वह अपनी शक्तियों के विकास के अवसर प्राप्त करता है। समाज में रहते हुए मनुष्य के जीवन का अधिकार, भोजन का अधिकार, वस्त्र आदि का अधिकार एवं शिक्षा का अधिकार आदि सभी अधिकारों की प्राप्ति इसी सिद्धान्त के द्वारा सम्भव है। प्रत्येक मनुष्य को अपने उपयोग की वस्तुओं पर स्वत्व रखने का अधिकार है क्योंकि इससे उसके व्यक्तित्व को विकसित होने का अवसर मिलता है; परन्तु यदि उससे किसी के अधिकार या व्यक्तित्व के विकास के लिए बाधा उत्पन्न होती है तो वह उन वस्तुओं को त्यागने का अधिकारी है जिससे वह दूसरों को प्राप्त हो सके। अतः मानवशक्ति के विकास का सिद्धान्त मानव जीवन को उच्चतम अवस्था तक पहुँचाने में सहायक है।

(9) समानता के सम्मान तथा चिन्ता पर आधारित सिद्धान्त

समानता के सम्मान तथा चिन्ता पर आधारित सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक रॉनाल्ड माइलैस डोवोरकिन (1931 – 2013) हैं।³¹ यह सिद्धान्त समानता के सम्मान तथा चिन्ता पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार का यह दायित्व है कि वह प्रत्येक नागरिक का सम्मान करे और उसके सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्न करे। यह सरकार की ही चिन्ता है कि वह प्रत्येक नागरिक को किस सीमा तक अधिकार प्रदान करने में कितना सफल होती है। अतः सरकार को अपने सभी नागरिकों की समान चिन्ता और समान सम्मान करना चाहिए।

(10) नारीवादी सिद्धान्त

नारीवादी सिद्धान्त की मुख्य प्रवर्तक शुलामिथ फायरस्टोन (1945 – 2012) और शीला रोबाथम हैं। यह सिद्धान्त अधिकारों की प्रचलित प्रणाली में युगान्तकारी परिवर्तन लाना चाहता है; क्योंकि इसके अन्तर्गत युग-युग से प्रत्येक समाज में स्त्रियों को पुरुषों की दासी बनाकर रखा गया है। जबकि प्रकृति ने सभी को समान अधिकारों से सम्मानित किया है। यह सिद्धान्त इस बात पर कटु प्रहार करता है कि प्रकृति के लिए सभी समान हैं फिर पुरुष को ही महत्ता क्यों दी जाती रही है। यह सिद्धान्त प्राकृतिक सिद्धान्त के अत्यधिक समीप है। अतः नारीवादी सिद्धान्त ऐसी व्यवस्था का समर्थन करता है जिसमें स्त्रियों को पुरुषों के बराबर शक्ति और सम्मान प्राप्त हों क्योंकि किसी भी कार्य के करने में जितने पुरुष सक्षम हैं उतनी ही महिलायें भी हैं। किसी भी स्तर पर महिलायें पुरुषों से कम नहीं हैं।

(11) मार्क्सवादी सिद्धान्त

मार्क्सवादी सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक कार्ल मार्क्स (1818 – 1883) हैं। कार्ल मार्क्स को समाजवादी विचारधारा का प्रवर्तक माना जाता है।³² मार्क्सवाद के अनुसार किसी भी राज्य में किसी समाज में प्रचलित अधिकार वहाँ के शासक वर्ग या प्रभुत्वशाली वर्ग के

अधिकार होते हैं जो पराधीन वर्ग का दमन करके स्थापित किये जाते हैं। अतः पूँजीवादी समाज कामगार-वर्ग का दमन करके पूँजीपतियों के अधिकारों का दमन करके पूँजीपतियों के अधिकारों और हितों की ही रक्षा करता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार राज्य सर्वकल्याण को अपना उद्देश्य समझने वाला समुदाय कभी नहीं रहा है। यह तो सदैव एक ऐसा संगठन रहा है और सदैव ऐसा ही रहेगा, जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्गों पर शासन करता है और उनका शोषण करता है। कामगारों को अपने अधिकारों एवं हितों की रक्षा के लिए एक नई व्यवस्था स्थापित करनी होगी जिसमें उत्पादन के प्रमुख साधनों को सामाजिक स्वामित्व और नियन्त्रण में रखना होगा। इसके लिए क्रान्ति सर्वथा आवश्यक है ताकि पूँजीवादी व्यवस्था को धराशायी किया जा सके। कार्ल मार्क्स एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें न वर्ग हो, न जाति हो, न धर्म हो अपितु सभी समान हो और समान अधिकारों के अधिकारी हों। इस भेदभाव रहित समाज को कार्ल मार्क्स ने 'वर्ग विहीन' समाज कहा है। कार्ल मार्क्स के शब्दों में 'पुराने बुर्जुआ समाज तथा उसके वर्गों और वर्ग विरोधों के स्थान पर हम एक ऐसे समाज की स्थापना करेंगे जिसमें प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास सभी के स्वतन्त्र विकास की आवश्यक शर्त होगी।'³³ कार्ल मार्क्स ने राज्य का भी विरोध किया है क्योंकि राज्य एकाधिकार की भावना रखता है और केवल पूँजीपति वर्ग को ही बढ़ावा देता है। राज्य बुर्जुआ वर्ग के लिए कोई विशेष कदम नहीं उठाता है। मार्क्सवादी विचारक लेनिन ने राज्य की आलोचना की है और कहा है कि राज्य सदा ही एक विशिष्ट वर्ग का संगठन मात्र रहा है और उसका स्वरूप सदा ही ऐसा ही रहेगा जिससे किसी एक विशिष्ट वर्ग का ही हित-साधन होता रहे। राज्य पूँजीवादी शक्ति का परिणाम मात्र है।³⁴ ऐंग्लिस ने राज्य के विषय में कहा है कि राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के दमन के लिए एक यन्त्र मात्र है। अतः पूँजीवादी व्यवस्था अधिकारों की शोषक है। सर्वहारा या बुर्जुआ वर्ग को अपने अधिकार प्राप्ति के लिए क्रान्ति करने की आवश्यकता है तभी वह अपने अधिकार प्राप्त कर सकता है।

(12) अम्बेडकरवादी सिद्धान्त

अम्बेडकरवादी सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर (1891-1956) हैं। यह सिद्धान्त मानता है कि अधिकारों को एक विशेष वर्ग ने दूसरे वर्ग विशेष का शोषण करके उसके अधिकारों को छीन लिया है और उसके जीवन जीने के समस्त साधनों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर का मानना है कि जिस समाज में कुछ वर्गों के लोग जो कुछ चाहें वह सब कुछ कर सकें और बाकी वह सब भी न कर सकें जो उन्हें करना चाहिए, उस समाज के अपने गुण होते होंगे, परन्तु इनमें स्वतन्त्रता शामिल नहीं होगी। यदि इन्सानों के अनुरूप जीवन जीने की सुविधा कुछ लोगों तक सीमित है, तब जिस सुविधा को आमतौर पर स्वतन्त्रता कहा जाता है, उसे विशेषाधिकार कहना अधिक उचित होगा।³⁵ बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा है कि 'खोये हुए अधिकार इन्हें छीनने वाले लोगों से भीख मांगने और अपीलों से वापिस नहीं होते हैं, इसके लिए कठोर संघर्ष की आवश्यकता होती है।'³⁶ अधिकार विहीन समाज को अधिकार प्राप्ति के लिए बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने जन-संदेश देते हुए कहा है कि शोषित वर्ग को अपने अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष करना चाहिए; चूंकि बलि बकरे की दी जाती है, शेर की नहीं³⁷ अर्थात् सभी को शेर के समान स्वाभिमान से जीवन जीना चाहिए। जो व्यक्ति दूसरों पर निर्भर होता है, वह कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकते हैं³⁸ और दूसरों का गुलाम बनकर सौ वर्ष जीने से स्वतन्त्रता और स्वाभिमान के साथ जीये गए दो दिन भी अच्छे हैं।³⁹ मानव को मानवता के कारण मानवाधिकार प्राप्त होने चाहिए। चूंकि वह मानव पवित्र का सदस्य

है। अतः अधिकार भीख मांगने से नहीं मिलते हैं अपितु अधिकार संघर्ष करने से मिलते हैं।⁴⁰

निष्कर्ष

सभी सिद्धान्तकारों ने मानव अधिकारों के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। किसी सिद्धान्त ने राज्य को महत्त्व दिया है, किसी ने पूँजीवादी व्यवस्था को महत्त्व दिया है, किसी ने समाज को महत्त्व दिया है, किसी ने अस्तित्व को महत्त्व दिया है, किसी ने संघर्ष को, तो किसी ने न्याय को महत्त्व दिया है; परन्तु सभी सिद्धान्तों में प्रकृतिवादी सिद्धान्त अपने में अपूर्व विशेषताएँ लिये हुए है। इस प्रकार मानवाधिकार की उत्पत्ति एवं विकास के सम्बन्ध में ये मत पूर्णता को प्राप्त भले ही ना होते हों परन्तु आंशिक समाधान तो अवश्य ही प्रस्तुत करते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. डॉ.एस.के.कपूर, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, पंचम संस्करण 2015, पृ 5।
2. डॉ.एस.के.कपूर, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, पंचम संस्करण 2015, पृ 5, जे0 ई0 एस0, द लॉ ऑफ नेशनस, 1968, पृ 26।
3. डॉ.एस.के.कपूर, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, पंचम संस्करण 2015, पृ 5।
4. ओम् प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, छटा पुनर्मुद्रण 2014 पृ 348।
5. ओम् प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, छटा पुनर्मुद्रण 2014 पृ 348।
6. ओम् प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, छटा पुनर्मुद्रण 2014 पृ 349, डॉ. बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीति चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ 257।
7. डॉ.एस.के.कपूर, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, पंचम संस्करण 2015, पृ 5।
8. डॉ.बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीति चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ 251।
9. डॉ.बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीति चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ 258।
10. डॉ. बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीति चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ 260।
11. डॉ.बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीति चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ 234।
12. ओम् प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, छटा पुनर्मुद्रण 2014 पृ 349।
13. डॉ.बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीति चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ 261।
14. उपयोगितावाद का प्रारम्भ फ्रान्सस हचिसन ने किया था। उनका मानना था कि वह कार्य सर्वोत्तम है जिससे अधिकतम लोगों को अधिकतम प्रसन्नता होती है। सत्यकेतु विद्यालंकार, राजनीतिशास्त्र, श्री सरस्वती सदन नई दिल्ली, 13 वॉ पुनर्मुद्रण 2011, पृ 548। जेरेमी बेंथम ने कहा है कि उपयोगितावाद किसी वस्तु का वह गुण है जिसके द्वारा वह किसी ऐसे व्यक्ति के लिए लाभ, सुविधा, सुख, अच्छाई या कल्याण का सृजन करती है अथवा ऐसे पक्ष के विरुद्ध होने वाले छल, पीड़ा, बुराई या अहित को रोकने का कार्य करती है जिसके हित के बारे में विचार किया जा रहा है।
15. डॉ.जय जय राम उपाध्याय, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, चतुर्थ पुनर्मुद्रण 2013, पृ 15।
16. डॉ.बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा, पृ 325।

17. शशी के.जैन, प्रतीनिधि राजनीतिक विचारक, कॉलिज बुक डिपो जयपुर, पुनर्मुद्रण 2017, पृ 372।
18. सत्यकेतु विद्यालंकार, राजनीतिशास्त्र, श्री सरस्वती सदन नई दिल्ली, 13 वॉ पुनर्मुद्रण 2011, पृ 172।
19. डॉ.बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा, पृ 455, राजनीतिक के मूलतत्त्व, पृ 97।
20. सत्यकेतु विद्यालंकार, राजनीतिशास्त्र, श्री सरस्वती सदन नई दिल्ली, 13 वॉ पुनर्मुद्रण 2011, पृ 75।
21. ओम् प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, छटा पुनर्मुद्रण 2014 पृ 357।
22. डॉ.जय जय राम उपाध्याय, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, चतुर्थ पुनर्मुद्रण 2013, पृ 15, सत्यकेतु विद्यालंकार, राजनीतिशास्त्र, श्री सरस्वती सदन नई दिल्ली, 13 वॉ पुनर्मुद्रण 2011, पृ 173।
23. ओम् प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, छटा पुनर्मुद्रण 2014 पृ 330।
24. डॉ.जय जय राम उपाध्याय, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, चतुर्थ पुनर्मुद्रण 2013, पृ 15 तथा ओम् प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, छटा पुनर्मुद्रण 2014 पृ 330।
25. सत्यकेतु विद्यालंकार, राजनीतिशास्त्र, श्री सरस्वती सदन नई दिल्ली, 13 वॉ पुनर्मुद्रण 2011, पृ 174।
26. डॉ.एस.के.कपूर, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, पंचम संस्करण 2015, पृ 6।
27. डॉ.एस.के.कपूर, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, पंचम संस्करण 2015, पृ 6।
28. डॉ.एस.के.कपूर, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, पंचम संस्करण 2015, पृ 6।
29. डॉ.बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीति चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ 20।
30. डॉ.जय जय राम उपाध्याय, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, चतुर्थ पुनर्मुद्रण 2013, पृ 15 तथा ओम् प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, छटा पुनर्मुद्रण 2014 पृ 330।
31. डॉ.एस.के.कपूर, मानव अधिकार, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, पंचम संस्करण 2015, पृ 7।
32. डॉ.बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीति चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ 424।
33. डॉ.बी.एल.फड़िया, पाश्चात्य राजनीति चिन्तन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ 495।
34. सत्यकेतु विद्यालंकार, राजनीतिशास्त्र, श्री सरस्वती सदन नई दिल्ली, 13 वॉ पुनर्मुद्रण 2011, पृ 78।
35. Dr.Ambedkar Writing and Speeches, Dr.Ambedkar Academy, New Delhi, Vol.9, Ed.4th, 2013, p. 1.
36. बाबासाहेब डॉ.भीमराव अम्बेडकर वक्तव्य, बहिष्कृत हितकारणी सभा, 27 नवम्बर, 1927 ई.।
37. बाबासाहेब डॉ.भीमराव अम्बेडकर वक्तव्य, बहिष्कृत हितकारणी सभा, 27 नवम्बर, 1927 ई.।
38. Dr.Ambedkar Writing and Speeches, Dr.Ambedkar Academy, New Delhi, Vol.20, Ed.4th, 2013, P. 308.
39. Dr.Ambedkar Writing And Speeches, Dr.Ambedkar Academy, New Delhi,, Vol.18, Ed.4th, 2013, P. 393.
40. Dr.Ambedkar Writing and Speeches, Dr.Ambedkar Academy, New Delhi, Vol.19, Ed.4th, 2013, P.46.